श्री विभीषण गीता

(धर्मरथ - श्री राम का विभीषण को उपदेश)

व्याख्याकार

स्वामिनी अमितानन्द सरस्वती

वेदान्त आश्रम प्रकाशन

www.vmission.org.in

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
01	विभीषण प्रश्न	03
02	रथचक्र - सौरज	11
03	रथचक्र - धीरज	13
04	ध्वजा - शील	17
05	पताका - सत्य	18
06	घोड़ें - बल	21
07	घोड़ें - विवेक	23
08	घोड़ें - दम	26
09	घोड़ें - परहित	29
10	रस्सी - क्षमा	34
11	रस्सी - कृपा	36
12	रस्सी - समता	38
13	सारथि - ईशभजन	42
14	ढाल - विरति	46
15	कृपाण -संतोष	50
16	परसु - दान	54
17	शक्ति - बुद्धि	57
18	धनुष - विज्ञान	60
19	बाण - शुद्ध मन	62
20	बाण - स्थिर मन	65
21	कवच - विप्र और गुरुपूजन	67
22	उपसंहार	71

श्री विभीषण गीता

श्री रामचरित मानस के लंकाकाण्ड में एक सुन्दर प्रेरक प्रसंग प्राप्त होता है। जिससे व्यक्ति के सुन्दर व्यक्तित्व निर्माण होता है। इस प्रसंग को विभीषा गीता अथवा धर्मरथ नाम से भी जाना जाता है।

जिस समय भगवान राम, रावण के साथ युद्ध के लिए मैदान में आएं, तब विभीषणजी ने देखा कि रावण अनेकों अस्त्र-शस्त्र और अनेकों संसाधनों से युक्त है, उसके शरीर पर कवच धारण किया हुआ है। तथा वह रथ पर सवार है। दूसरी ओर श्रीराम नंगे पैर हैं, जिनके शरीर पर न कोई कवच है, और न ही उनके पास कोई रथ है। वे बिना किसी संसाधन के जमीन पर खड़े थे। ऐसी विषमता देखकर स्वाभाविक ही विभीषणजी के मन में मोहपूर्वक प्रश्न हुआ कि ऐसे युद्ध को कैसे जीता जा सकता है। युद्ध तो बराबरी को होना चाहिए

और यह तो सरासर अनुचित है। यह देखकर उनके मन में चिन्ता व्याप्त हो गई।

रावण रथी बिरथी रघुवीरा।
देखि विभीषण भयउ अधीरा।।
अधिक प्रीति मन भा सन्देहा।
बन्दि चरन कह सहित सनेहा।।
नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना।
केहिं बिधि जीतब बीर बलवाना।।
सुनहुं सखा कह कृपानिधाना।
जेहिं जय होइ सो स्यन्दन आना।।

रावण को रथ पर तथा श्री रघुवीर को बिना रथ के देखकर विभीषणजी अधीर हो गए। मन में अधिक प्रेम के कारण सन्देह हो गया। श्री रामजी की चरणवन्दना करके वे स्नेहपूर्वक बोलें – 'आपके पास न रथ है, न तन की रक्षा करनेवाला कवच और जुते हैं। वह बलवान वीर रावण कैसे जीता जा

सकता हैं। तब कृपानिधान श्री राम बोलें – 'हे सखा! सुनों, जिससे जय होती है, वह रथ कोई दूसरा ही है।'

विभीषणजी जिस परिवेश में जी रहे थे, उसमें यह सोच स्वाभाविक ही थी। जिन्हें अपने आपसे ज्यादा बाहरी संसाधनों पर विश्वास होता है। किन्तु साथ ही उनमें भगवान् के प्रति भक्ति भी थी, इसलिए अपनी इस सोच पर भी प्रश्नचिह्न लगाने का साहस भी है। वे रावण के प्राप्त के संसाधनों को, उसकी शक्ति आदि से अच्छी प्रकार से परिचित है। किन्तु साथ ही प्रभु श्रीराम में तथा पूरी वानर सेना में अदम्य उत्साह और साहस भी देख रहे हैं। तथापि संस्कारों की प्रबलता की वजह उनमें सहज रूप से संशय को स्थान मिलता है। प्रभु के प्रति शरणागत हुए विभीषणजी भक्ति और आत्मीयता से युक्त होकर विनम्र भाव से अपने विचार और संशय को प्रभु के समक्ष रखते हैं।

भगवान श्रीराम विभीषणजी की बात सुनकर उन्हें उपदेश देते हैं। जीवन की लड़ाई को जीतने के लिए जिन संसाधनों की आवश्यकता है, वो तो कोई और ही है। जिसके माध्यम से ऐसा व्यक्तित्व निर्मित होगा कि वह व्यक्ति सफल होगा। कई बार साधनों की सुसज्जता को देखकर मोह हो जाता है। परन्तु धनादि या लौकिक साधन मात्र से सफलता की प्राप्ति नहीं किन्तु हमारे कुछ विवेक व मूल्यों के समावेश से सफलता प्राप्त होती है। यह विवेक जिसमें आ गया वह कभी मोहित नहीं होता। अन्यथा साध्य-साधन के अविवेक से मोहित होकर संसार की ही प्राप्ति होती हैं। मानवीय संसाधनों में ऐसे सामर्थ्य निहित हैं, जिससे उसके अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों ही सिद्ध हो सकते हैं।

संसाधनयुक्त लोग संसाधन के बावजूद कर्म के क्षेत्र में घुटन, दुःख, बेचैनी, असफलता आदि को भी प्राप्त होते रहते हैं। यह दीखाता है कि, व्यक्तित्व में कुछ ऐसे गुण की आवश्यकता

जो उन सब उक्त दोषों से मुक्त रखती है। ऐसे गुण ही सफलता को सुनिश्चित करता है। वास्तविक साधन हमारे दैवी गुण होते हैं। यदि ऐसे गुण हो तो अन्य संसाधन स्वयं ही आ जाएगें और उसका सदुपयोग होगा। स्वतंत्रता से जीवन जीया जाएगा। समस्त पराधीनता खत्म होने लगती है।

रावण संसाधनों से युक्त है तथा श्रीराम नंगे पैर जमीन पर खड़े थे, तो भी वे विजयी हुए। महाभारत के युद्ध में भी नौ अक्षोहिणी सेनावाले पाण्ड़व लोग जीत गए और ग्यारह अक्षोहिणी की विशाल सेनावाले कौरव लोग परास्त हुए। उनमें जो विलक्षणता है – वह उत्साह, भावना, साहस, संतुष्टि, संयम से युक्त, दीनता से रहित होकर संसाधनों का प्रयोग है। संसाधनों पर सफलता निर्भर नहीं होती है। मन की दूरदर्शिता, स्पष्टता, साहस जहां पर है वहीं पर सफलता होती है। सुख-दुःख, मानापमान, बंधन-मोक्ष मन में होता है। तथा

सफलता-असफलता आदि सब मन के कारण ही होते हैं। बाह्य संसाधन कितने है - यह सफलता की कसौटी नहीं, किन्तु ज्ञान और गुण की विशिष्टता है। अन्य सबसे मोह की समाप्ति हो। संसाधनयुक्त व्यक्ति अपने संकल्प की सिद्धि नहीं कर पा रहा, तद्विपरीत उससे विहीन व्यक्ति भी संकल्प की सिद्धि कर सकता है। साधनों के प्रयोग-अप्रयोग का कोई दुराग्रह न हो, किन्तु थोड़े से साधन भी विवेक के होने पर सफलता को दिला सकता है। मन में यह निश्चय हो जाए कि, वास्तविक संसाधन मानवीय गुण ही है। संकल्पसिद्धि हमारे ज्ञान और गुण के अधीन होती है।

प्रभु श्रीराम विभीषण के मोह का समाधान करते हुए बताते हैं कि 'जिस रथ पर बैठकर युद्ध को जीता जाता है वह कोई अन्य ही है।' प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करके देखें कि वह रथ कौनसा है, जिससे विजयी हुआ जाता है। यह विभीषण गीता इस विषय का प्रेरक प्रसंग है।

सौरज धीरज एहि रथचाका।
सत्य शील दृढ़ ध्वजापताका।

भगवान विभीषणजी को बताते हैं कि इस धर्मरथ के दो पहिए शौर्य और धैर्य हैं। सत्य, शील उसके ध्वजा और पताके हैं।

भगवान श्रीराम उसे रथ की संज्ञा देते हैं, जिन मूल्यों से युक्त होकर जीवन में सफलता आदि की प्राप्ति होती है। क्योंकि जीवन एक यात्रा समान है। जहां प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी लक्ष्य से प्रेरित होकर जीवन जी रहा है। लक्ष्य कोई भी क्यों न हो – चाहे बाह्य जीवन में उपलब्धियां हो अथवा अध्यात्म से सम्बद्ध लक्ष्य हो। रथ का प्रयोजन ही गति होना है। जिन मूल्यों का प्रयोजन सद्गति प्रदान करना है। ऐसे कौनसे मूल्य है, जो जीवन में गति प्रदान करते हैं। इस विषयक ज्ञान तथा मूल्य से युक्त होने पर ही सफलता प्राप्त होती है।

उन रथ के विविध अंगों में सर्वप्रथम रथ के दो चक्र को दिखाते हैं। चक्र वो हैं कि जिससे रथ को गति प्राप्त होती है। वो दो पहिए हैं – शौर्य और धीरज। जीवन का रथ इन्हीं दो पहियों पर खड़ा होता है और तब ही आगे बढ़ पाता है तथा यह ही जीवन में गति का आधार है। यह गति लक्ष्य की दिशा में अग्रसर होना है। इसके लिए सर्वप्रथम लक्ष्य का निर्धारण करना अत्यन्त आवश्यक है तथा उन लक्ष्य के प्रति प्रेम भी होना चाहिए। लक्ष्य इस रथ के द्वारा प्राप्त करने वाली मंजिल है। लक्ष्य के अभाव में यात्रा ही निष्प्रयोजन होती है। अतः जीवन में लक्ष्य भी बहुत महान होना चाहिए। वो भी हमारे अपने हृदय की अन्तःप्रेरणा होनी चाहिए, न कि बाह्य देखादेखी में निर्धारित किया गया कोई लक्ष्य। जब तक वो स्वयं की अन्तःप्रेरणा नहीं होती, तब तक शौर्य अर्थात् वीरता व उत्साह का संचार ही नहीं हो पाता है। अन्तःप्रेरणा ईश्वरीय संकल्प होता है। जब कि देखादेखी में निर्धारित किया गया लक्ष्य बाहरी

किसी प्रलोभन से प्रेरित होता है। अतः स्वार्थ व स्वकेन्द्रिता की प्रधानता होने की सम्भावना से युक्त होता है। जो भी अन्तःप्रेरणा होती है वह ही हमारे हृदय की चाह है, उसमें प्रेम होना स्वाभाविक है।

सौरज

जीवन में उत्साह होना न केवल जीवन्तता का लक्षण है, अपितु किसी भी लक्ष्य की सिद्धि हेतु अत्यन्त महतवपूर्ण भी है। शौर्य में उत्साह के साथ निर्भीकता का भी समावेश होता है। लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ने में किसी भी प्रकार का भय बहुत बड़ा व्यवधान होता है। भय का अस्तित्व ईश्वर के प्रति आस्था का अभाव होने से, स्वयं के उपर कर्तृत्व का बोझ और अभिमान लेने से तथा तीव्र फलासक्ति के अस्तित्व में होता है, जो कि आत्मबल को भी कमजोर बना देता है। प्रभु के उपर विश्वास ही आत्मविश्वास को जगाता है। ऐसे निर्भीकता पूर्ण उत्साह से युक्त होने पर लक्ष्य की प्राप्ति

की दिशा में आगे बढ़ने के लिए कोई भी नहीं रोक सकता। लक्ष्य की स्पष्टता और लक्ष्य के प्रति प्रेम ही शौर्य की वृद्धि के लिए उर्जा प्रदान करता है।

शौर्यवान् व्यक्ति शान्त, लक्ष्य के बारे में स्पष्टता से युक्त होता है। व्यक्तित्व में सकारात्मकता होती है, जो उसे आगे बढ़ने की सतत प्रेरणा देता है। कार्य के लिए दृढ़ संकल्प होने पर उसके क्रियान्वयन की दिशा में गहराईपूर्वक विचार करता है। वह सम्भावित अवरोधों को समझने का प्रयास करता है। इसके उपरान्त शान्त और निर्भीक होकर आगे बढ़ता है। आत्मविश्वास व ईश्वर के प्रति भरोसा ही उसे निर्भीक बनाता है। ईश्वर के प्रति विश्वास की वजह से भविष्य की चिन्ताओं से मुक्त होता है, तथा भूतकाल की उपलब्धियों के अभिमान से रहित और असफलता एवं गल्तियों के बारे में ग्लानि से रहित होता है। पूर्व के अनुभव से शिक्षा लेता है। शौर्य स्थिर मन का गुण

है। यह कोई भावनात्मक आवेश नहीं होता है। जब भी कोई लक्ष्य अपने व्यक्तिगत अहं की प्रधानता से प्रेरित होता है तो वहां पर उत्साह का स्थायित्व नहीं हो पाता है।

धीरज

जहां शौर्य रथ का एक चक्र है, तो धैर्य उसका दूसरा चक्र है। यदि शौर्य मात्र हो, और धैर्य का अभाव हो, तो भी किसी व्यवधान की प्राप्ति होने पर शीघ्र ही हतोत्साहित होकर लक्ष्य की यात्रा से विमुख होने की सम्भावना होती है। अतः भगवान विभीषणजी को इस धर्मरथ को गति प्रदान करने वाला एक चक्र जहां शौर्य बताते हैं, तो दूसरा चक्र धैर्य बताते हैं।

जगत में तीन प्रकार के लोग होते हैं। एक वो होते हैं – जो लक्ष्य के प्रति उत्साह से आगे तो बढ़ने की इच्छा तो रखते हैं, किन्तु किसी प्रकार के व्यवधान की सम्भावना को देखने मात्र पर वे यात्रा को अधूरा छोड़ देते हैं। दूसरे

प्रकार के वे होते हैं, जो लक्ष्य की दिशा में आगे तो बढ़ते हैं, किन्तु जहां व्यवधान की प्राप्ति होते से ही यात्रा से विमुख हो जाते हैं। किन्तु तीसरे प्रकार के वो लोग होते हैं, जो यात्रा को उत्साह से आरम्भ करते हैं, तथा व्यवधान और कष्ट की सम्भावनाओं के लिए मानसिकरूप से सदैव तैयार रहते हैं, तथा जब भी कोई व्यवध ान प्राप्त होता है, तो या तो वैकल्पिक मार्ग के बारे में विचार करते हैं, अथवा व्यवधान की निवृत्ति के लिए प्रतीक्षा करते हैं, किन्तु पीछे नहीं हटते हैं – ऐसे लोग को धैर्य से युक्त कहा जाता है।

यदि किसी भी लक्ष्य का संकल्प हो तो जीवन में उतार–चड़ाव, अनुकुलता–प्रतिकुलता की सम्भावनाएं सदैव होती ही है। जो भी परिस्थिति लक्ष्य की दिशा को अवरुद्ध करती है, वह ही प्रतिकूल होती है, तथा तद्विपरीत अनुकूल। धैर्य की परीक्षा ऐसे अवरोधों की प्राप्ति के समय ही होती है। धैर्यवान व्यक्ति

सजग और सकारात्मक व्यक्तित्व से युक्त होता है। धैर्यवान व्यक्ति प्रतिकूलता में विक्षिप्त व विचलित नहीं होता है। उनमें आत्मविश्वास की कोई कमी नहीं होती है। वहां संकल्प की तीव्रता भी यथावत बनी हुई है। किन्तु उचित समय व परिस्थिति के बारे में विवेकपूर्वक प्रतीक्षा रहती है। उसके द्वारा आवेशात्मक प्रतिक्रियाओं का अभाव होता है। धैर्य के अभाव में ही थकावट, हतोत्साहिता आदि की सम्भावना होती है। अतः धैर्य अति आवश्यक है।

महान लक्ष्य के संकल्प के उपरान्त जीवन में उतार-चड़ाव, अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता की सम्भावना स्वाभाविक ही होती है। ऐसे समय कि जब कुछ भी कर पाने में असहाय है, तो वहां मन में खिन्नता और विक्षेप की सम्भावना होती है। किन्तु ऐसे समय धैर्य परं आवश्यक होता है। धैर्य की आवश्यकता प्रतिकूल परिस्थिति में ही हुआ करती है।

धैर्य शब्द से काल के बारे में संवेदना तथा विवेक दिखता है। धैर्य अशान्ति और घुटन से मुक्त करके प्रामाणिक ज्ञान के चिन्तन की प्रेरणा देता है।

धैर्य रूप गुण को धारण करने के लिए अदम्य आत्मविश्वास होना चाहिए। किन्तु यह विश्वास अपने सामर्थ्य के अभिमान से जनित न होते हुए ईश्वर के प्रति आस्था की वजह से होता है। प्रत्येक परिस्थिति ईश्वर के द्वारा प्रदत्त है। अतः उन परिस्थितियों को प्रसाद के रूप में ग्रहण करने पर अन्य अनुचित विचार आदि में उर्जा का व्यय नहीं होता है, तथा मन की विचारशीलता बरकरार रहती है। इसी कारण उचित दिशा में विचार सम्भव हो पाता है। इतना ही नहीं, उन प्राप्त परिस्थिति का उचित प्रयोग कर लक्ष्य के लिए सहायक बनाने का सामर्थ्य हो पाता है। धैर्य मन में समत्वरूप गुण का भी परिचायक है। अतः धैर्य और शौर्य दोनों ही रथ को लक्ष्य की दिशा में यात्रा के लिए

आवश्यक अंग है। शौर्य जहां कर्मप्रधान चेष्टा है, तो धैर्य ज्ञानप्रधान है। इस रथ को गति तो इसके द्वारा ही प्राप्त होती है, किन्तु इस रथ की शोभा ध्वजा और पताका से ही है।

ध्वजा – पताका

रथ की दृश्यमानता जिसकी वजह से होती है, वो है ध्वजा व पताका। किसी भी रथ के रथी की पहचान उसके ध्वजा व पताके से होती है। ध्वजा पताका को आधार प्रदान करनेवाला दण्ड़ होता है। रथ की तरह ही व्यक्तित्व के परिचय के लिए भी एक दृढ़ दण्ड़ और पताका आपेक्षित है। वह है सत्य और शील। ध्वजा सत्य है, अर्थात् दण्ड़ की तरह से।

शील

शील अर्थात् आचरण अथवा चरित्र उसकी पताका है। दण्ड़ के आधार पर टिका शील ही प्रथम दृष्टिगोचर होता है। जिस चरित्र में विनम्रता, समग्रता है, विवेकपूर्वक प्रबुद्धता से

आचरण होता है – वह शील है। इस शील से ही हमारे व्यक्तित्व की पहचान होती है। यह ही हमारी मूल अस्मिता है। किन्तु यदि अस्मिता का आधार सत्य और शील को छोड़कर कोई और हो तो वह धर्मरथ नहीं है।

सत्य

शील अर्थात् चरित्र का आधार सत्य होना चाहिए। यह एक ऐसा व्यक्तित्व बताया जा रहा है कि जहां सत्य के बारे में कोई समझौता नहीं है। कैसी भी परिस्थिति प्राप्त हो, कैसे भी प्रलोभन प्राप्त हो या उतार-चड़ाव प्राप्त हो, तब भी एक सिद्धान्त हो कि सत्य का ही आश्रय लेंगे। यह ही हमारे रथ को धर्मरथ बनाता है। जब व्यक्तित्व में इन दो का समावेश हो तो वह धर्मरथ पर मानो आरूढ हो गया, और तब ही लक्ष्य की सिद्धि सम्भव होती है।

व्यक्तित्व में सत्य का समावेश विश्वसनीयता लाता है। सत्य का समावेश न

केवल वचन में, किन्तु विचार में भी सत्य का समावेश होना चाहिए। जहां यह सत्य मन, वचन और कर्म तीनों स्तर पर समाविष्ट होता है, तब वहां सुन्दर चरित्र का निर्माण होता है। ऐसे शील में अन्य का आदर, स्नेह, अपनापन और संवेदनीलता होती है। वहां अपनेपन का विस्तार है। सत्य के पालन में बल की अपेक्षा होती है। जहां कुछ लौकिक स्वार्थ और लाभ की सिद्धि का त्याग भी करना पड़ सकता है। इन समस्त का त्याग करने का साहस मात्र वो ही कर सकता है, जिनमें ईश्वर के प्रति असीम आस्था हो तथा जीवन के महान लक्ष्य रूप अपने सत्य में जगने का संकल्प हो।

सत्य के अभाव में व्यक्तित्व में दोहरापन, दम्भ आदि दोष होते हैं। जिससे संकल्पशक्ति की क्षीणता होती है। संकल्पशक्ति मन्द होने पर ही जीवन में उत्साह अर्थात् शौर्य की कमी होने लगती है। सत्य के प्रति समझौता व्यक्त उपलब्धियों के प्रति अत्यधिक महत्व का सूचक

है। जितना व्यक्त के प्रति महत्व होता है, उतना ही व्यक्तित्व में जड़ता व विचारशीलता का अभाव होता है। ऐसे शील से युक्त व्यक्ति का जीवन ही किसी पुरुषार्थ के लिए समर्थ नहीं रह पाता है। अन्ततः उस व्यक्तित्व में मनुष्यत्व का ह्रास होता है, जिसमें सत्य और शील का अभाव है, उसके पास व्यावहारिक दृष्टि से सब कुछ होने पर भी कुछ नहीं होता।

अतः सत्य और शील ही हमारे रथ की ध्वजा-पताका की तरह से लहराने चाहिए।

बल विवेक दम परहित घोरे।

धर्मरथ के घोड़े बल, विवेक, दम और परहित हैं।

बल

रथ को खीचनेवाला एक अश्व आत्मबल तुल्य है। साधारणतः जगत में महानता का मापदण्ड अधिक मात्रा में धन तथा भोग्य सामग्री होना, किसी पद विशेष की प्राप्ति होना अथवा किसी प्रकार की विशिष्टता से युक्त होना है। धन-वैभव, भोगविलास, सत्ता तथा रिश्ते-नाते आदि सब व्यवस्था से युक्त होने पर व्यक्ति अपने आपको सुरक्षित और सुखी अनुभव करता है। इस प्रकार स्वयं को उन पर आश्रित रखते हुए बलवान समझता है। किन्तु ये वह वस्तुएं है, जो अपने अस्तित्व के लिए भी अन्य पर आश्रित है। अपने आपमें जड़, नाशवान और अस्थायी है। ऐसी वस्तु पर आश्रित होकर बलशाली अनुभव करना यह संसार के संताप

हेतु अपने आपको उपलब्ध कराना है। जिसका आश्रय लेकर खुद बलवान होने की कामना करते है, तथा उसके आश्रित होकर बलशाली होने के मोह से युक्त होते है, वह ही हमारी कमजोरी का कारण बन जाता है। उसकी प्राप्ति करके भविष्य की सुरक्षा को सुनिश्चित करना चाहते हैं, और अपने निर्धारित लक्ष्य को पाने हेतु आगे बढ़ने की कामना करते है। किन्तु उन सभी बाह्य आश्रयों का अस्तत्व बनाए रखना यह ही बहुत बड़ी चिन्ता का विषय होता है। इसके अभाव की कल्पना ही मन को उद्वलित व बेचैन कर देती है। जिससे कि उर्जाव्यय होने के साथ साथ मन रथ की गति अवरुद्ध होती है। इससे यह बात स्पष्ट ही है कि इससे बल प्राप्त होता है – यह हमारे द्वारा की गई एक निराधार कल्पना मात्र है।

इस कल्पना के पीछे कारण के प्रति गहराई से विचार करके देखें तो यह है कि हमने अपनी क्षुद्र अस्मिता बनाई हुई है। इसे पूर्ण करना यह

ही जीवन का लक्ष्य बन जाता है, तब किसी न किसी अन्य पर आश्रित होकर पूर्ण बनने की चेष्टा होती है।

जो शास्त्र और गुरु पर विश्वास करके अपनी पूर्णता की श्रद्धा तथा ईश्वर के अस्तित्व के दृढ़ निश्चय की श्रद्धा रखता है। वह ही आत्मबल को सशक्त करने का कारण बनता है। वह ही वास्तविक बल है।

विवेक

भगवान दूसरे अश्व की तरह विवेक बताते हैं। विवेक ऐसी सूक्ष्म बुद्धि है, जिससे युक्त होने के उपरान्त एक घोडे की तरह शक्ति व सामर्थ्य प्राप्त होता है। विवेक सदैव लक्ष्य सापेक्ष होता है। अतः सर्व प्रथम साध्य और साधन का विवेक करते हुए लक्ष्य का निर्धारण किया जाना चाहिए। दो मिली जुली चीजों को अलग करके देखने के सामर्थ्य को विवेक कहा जाता है। कई परिस्थिति में उचित और अनुचित का

निश्चय करना कठिन हो जाता है। वह अनिष्ट का क्षण मन में अत्यन्त घुटन उत्पन्न करता है। जिससे हतोत्साहित होकर लक्ष्य से विमुख होने की सम्भावना भी होती है। ऐसे समय विवेक का सामर्थ्य ही उस उलझन से मुक्त करके लक्ष्य की दिशा में अग्रसर करता है। उसके लिए बुद्धि में निष्पक्षतापूर्वक सजगता के साथ दूरगामी प्रभाव पर भी विचार करने का सामर्थ्य होना चाहिए।

अन्तःकरण के दो महत्वपूर्ण पहेलू हैं – वह हैं बुद्धि और मन है। मन अनुकूल और प्रतिकूल को समझता है। तथा साधारणतः उसे महत्व प्रदान करता है। जब कि बुद्धि उचित और अनुचित का विवेक करने में समर्थ होती है। जो व्यक्तिगत राग और द्वेष के अनुकुल जीता है वो मन के द्वारा प्रेरित होकर जीता है। वहां बुद्धि की गौणता हो जाती है, बुद्धि की निष्पक्षता और विचारशीलता का धीमे धीमे अभाव होने लगता है। जो विवेकी होता है वो

अपनी ऐसी राग-द्वेषात्मक भावनाओं से विवेक को प्रभावित नहीं होने देता। इसके लिए दृढ़ संकल्प और आत्मबल से युक्त होना चाहिए। प्रारम्भ में विवेक धर्म और अधर्म अर्थात् उचित और अनुचित का विवेक होता है। तथा धर्म के मार्ग पर चलने का साहस की अपेक्षा है। जैसे जैसे धर्म-अधर्म का विवेक करते हुए धर्मपथ अनुगामी होते हैं, वैसे वैसे बुद्धि की सूक्ष्मता और भी बढ़ती जाती है। ऐसी सूक्ष्म बुद्धि से ही नित्य और अनित्य का विवेक होता है। इसी विवेक से जीवन के परं पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि होती है। धर्मरथ का प्रयोजन अन्ततः इसी महान गन्तव्य को पाना है। इस प्रकार लक्ष्य की और अग्रसर होने के लिए बल के साथ विवेकरूप घोडे की भी आवश्यकता है।

दम

दम का अर्थ होता है – इन्द्रिय निग्रह। रथ की सुन्दरता और महिमा उनके घोडे की वजह से होती है, क्योंकि घोड़ें ही रथ को गन्तव्य तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अतः घोडों में अनुशासन होना चाहिए। अन्यथा रथ गन्तव्य तक नहीं पहुंचकर मार्ग में ही तहस नहस हो जाएगा। इस प्रकार के अनुशासन को दम कहा जाता है।

दम में इन्द्रियों पर नियन्त्रण है, जो किसी भी प्रकार के भय अथवा जबरदस्ती से प्रेरित नहीं है। किन्तु एक ऐसी स्वतंत्रता है, जहां जब चाहे इन्द्रियों को विषयों के प्रति प्रवृत्त कर सकते है और जब चाहे विषयों से विरत कर सकते है। अनुशासन मात्र इन्द्रियों की स्वच्छन्दता पर है। जिस प्रकार घोडें रथ के सेवक होते हैं, वैसे ही इन्द्रियां भी हमारी सेवक हैं। उसकी प्रवृत्ति प्रामाणिक निश्चय से युक्त बुद्धि के मार्गदर्शन

में होनी चाहिए। जहां इन्द्रियां और मन, विवेकी बुद्धि के मार्गदर्शन में कार्य नहीं करती है, वहां प्रवृत्ति और निवृत्ति का कारण राग-द्वेष होते हैं। राग और द्वेष की प्रचण्डता की वजह से इन्द्रियां खिंचकर विषयों की तरफ ले जाई जाती है। वहां अपनी बुद्धि के निश्चयों को जीने में असमर्थता अनुभव होती है। जो कि व्यक्तित्व में खण्ड और अशान्ति उत्पन्न करता है। धीमे धीमे आत्मबल खोने लगता है तथा स्वतंत्रता का अभाव अनुभव होता है। वह मन में घुटन व पीडा को ही जन्म देता है। व्यक्तित्व में समग्रता हो, शान्त, धैर्यवान हो तथा सुन्दर व स्वस्थ व्यक्तित्व हो, उसके लिए इन्द्रिय और मन को संयमित करना परं आवश्यक है।

यदि इन्द्रिय और मन को बलपूर्वक निगृहीत किया जाता है, तो उन पर से लगाम हटते ही वे अनियंत्रित व स्वच्छन्द होते हैं। जब जब मन और इन्द्रियां स्वच्छन्द होकर अनियन्त्रित रूप से भागते हैं, तो उसके पीछे

कारण होता है कि मन को बुद्धि के द्वारा निर्धारित किये गए लक्ष्य के प्रति अभी प्रेम जगा नहीं है, अथवा दिशाविहीनता के कारण रस की प्राप्ति के लिए कहीं न कहीं पलायन करना चाहता है। उन दोनों ही स्थिति में लक्ष्य के प्रति प्रेम तथा उसके बारे में स्पष्टता का अभाव ही है। अतः इसे निगृहीत करने का तरीका बुद्धि में लक्ष्य तथा उसकी दिशा स्पष्ट हो, साथ ही लक्ष्य के प्रति प्रेम जग जाए। जब लक्ष्य के स्मरण से उत्साह जग जाए, मन में भावपुष्प खिल उठे। तब बुद्धि के निर्देशन के अनुरूप मन और इन्द्रियां अनुसरण करते हैं। इसके अलावा इन्द्रियों की स्वच्छन्दता को पुनः नियन्त्रित करने के लिए अभ्यास की भी अपेक्षा होती है। मन और इन्द्रियां बार बार स्वच्छन्द होकर विषयों के प्रति भागेंगें, किन्तु उसे पुनः अपने लक्ष्य में लगाएं। एवं बार बार अभ्यास तथा प्रेम से युक्त मन और इन्द्रियां, दम नामक सुन्दर मूल्य से युक्त होते हैं।

धर्मरथ का प्रयोजन अन्ततः महान गन्तव्य को पाना है। रथ को लक्ष्य की ओर पहुंचाने में घोडों की अहम् भूमिका होती है। यह चारों घोडेंप्रेरक, उत्साहवर्धन करते हुए सामर्थ्य का सृजन करते हैं। ये बल, विवेक, दम और परहित रूप घोडें हैं, जहां बल वो शक्ति है जो आगे बढाने के लिए उत्साह व सामर्थ्य प्रदान करती है। विवेक के प्रभाव से दिशा निश्चित होती है। दम वह जिसकी वजह से उर्जा का व्यय न होते हुए उर्जा संचित होकर लक्ष्य की ओर आगे बढाने के लिए उत्साह का संचार करते है। अब चौथे घोडे परहित के बारे में बताया जा रहा है।

परहित

यदि बल, विवेक और दम का प्रयोग अपने ही स्वार्थ और हित के लिए होता है, तो वह संसार की ओर ले जाकर हमें क्षुद्र बनाए रखता है। किन्तु परहित का आश्रय लेने से महात्मा बनकर संसार से उपर उठ पाता है।

यदि सभी धर्मकार्य का आश्रय लिया गया हो, किन्तु परहित की भावना का अभाव हो तो वह कार्य अहं की संतुष्टि का निमित्त बन जाता है। परहित की भावना ही मनुष्य को सात्विक और महात्मा बनाती है। जिनमें ऐसा स्वभाव ही बन जाएं वह मन समस्त मलिनताओं से मुक्त होने लगता है। यह परहितरूप गुण सब के लिए सबसे बड़ा आशिर्वाद बन जाता है।

निष्कामता का दूसरा नाम ही परहित है। स्वहित की प्रधानता से प्रेरित के लिए फल की प्रधानता है, वो सकाम कर्म का तथा स्वार्थ का पर्याय बनता है। अन्ततः संसार की गर्त में ले जाने वाला होता है। संसारी से असंसारी तक की यात्रा में परहित ही हेतु होता है। जो क्षुद्रता से मुक्त करता जाता है। परहित की भावना ही सुख दुःख में कवच पहनाती है। मन को समत्व से युक्त करती है। इसमें एक व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो किसी का भी हित करने पर अन्य को सुख मिलता है। वह ही हमें धन्यता का रस

प्रदान करता है। वहां अपने स्व के सुख दुःख का प्रश्न ही नहीं है। वहां अन्य को सुखादि देने में हम निमित्तमात्र है। जो भी परहित से प्रेरित जीवन जीता है, वह अपने लक्ष्य की दिशा में सतत अग्रसर होता जाता है और अन्ततः अध्यात्म लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ बनता है।

परहित का आश्रय लेने के लिए स्वहित की चिन्ताओं से अर्थात् अपने व्यक्तिगत सुख व सुरक्षा की चिन्ताओं से मुक्त होना पडता है। यह तब ही सम्भव होता है कि जब जगदीश्वर के प्रति भरोसा हो। ईश्वर प्रेम और उनके प्रति श्रद्धा ही अपने बारे में निश्चिंतता जगाते हुए परहित के लिए प्रेरणा देती है। उस उदात्त दृष्टिकोण से युक्त व्यक्ति की दुनिया विशाल, व्यापक हो जाती है। अपने पराये के भेद समाप्त होते जाते है। ऐसा सात्विक जीव अहं का निरास करते हुए इस जीव से परे की अलौकिक सत्तारूप महान आत्मा को प्राप्त कर लेता है।

बल विवेक दम परहित घोरें।
क्षमा कृपा समता रजु जोरे।

धर्मरथ के घोडें बल, विवेक, दम और परहित हैं। तथा क्षमा, कृपा और समता इसकी लगाम है।

धर्मरथ के घोडे जहां बल, विवेक, दम और परहित है तो उन घोडों को नियंत्रित करने वाली लगाम की रस्सी – क्षमा, कृपा और समत्व है।

रथ के घोडे यदि अंकुश में नहीं हैं तो रथ लक्ष्य तक पहुंचने के पूर्व ही न केवल भटक जाएगा, किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव हो जाएगी। अतः घोडों के नियंत्रित करने वाली लगाम भी आवश्यक है। लगाम घोडों का नियंत्रण मात्र नहीं करती है, किन्तु घोडों को दिशा भी प्रदान करती है। लगाम घोडों पर कसी जाती है, तो उसका नियंत्रण रथ के स्वामी के

हाथ में होता है। जिस पर लगाम कसी जाती है, वह उन स्वामी के प्रति शरणागत होता है। लगामस्थानीय गुण स्वतंत्रता और विवेक का सूचक होता है। लगाम का प्रयोग वह ही करने में समर्थ होता है, जो किसी भी आवेश में नहीं बहता है। आवेशात्मक जीवन बेलगाम और स्वच्छन्द प्रतिक्रिया मात्र है। जो आवेश पर नियंत्रण पा लेता है वो ही स्वतंत्रता का अनुभव करता है। जहां क्षमा, कृपा और समता का अस्तित्व है वहीं पर स्वतंत्रता है, उसका अभाव ही स्वच्छन्दता का सूचक होता है। यह तीनों एक ही लगाम की रस्सी की तीन लड़ें है। यह ही बल आदि को दिव्यता और सुन्दरता प्रदान करते हैं, तथा लक्ष्य की ओर सहज दिशा प्रदान करते हैं। जीवन में महान लक्ष्य की सिद्धि के लिए बल की आवश्यकता होती है। किन्तु यदि इस बल को नियंत्रित करके सही दिशा में मोडने वाली लगाम न हो तो बल स्वच्छन्दता लाता है। अतः बल आदि रूप घोडें को नियंत्रित करनेवाली लगाम रूप रस्सी आवश्यक है।

जो भी व्यक्तित्व में लगाम लगाता है, वो अपने निश्चयों को जीने में समर्थ हो पाता है। उसका जीवन सजगता से युक्त है। क्षमा आदि तीनों गुण विचारशीलता और संवेदनशीलता का सूचक है।

क्षमा

इन लगाम की रस्सी के तीन सूत्रों में सर्वप्रथम भगवान बताते हैं क्षमा की भावना हो। क्षमा प्रतिक्रिया का अभाव है तथा अन्य के दोष के प्रति निर्विकारिता है। यदि किसी अन्य के द्वारा अपने प्रति किए गए अपराध से मन विकृत होता है तो यह अन्य के मन के विकार का दण्ड अपने आपको देना है। जब भी मन में विकार आता है तो हमारा ही ज्ञान उपलब्ध नहीं रह पाता है। क्षमा की भावना अन्य के मन के प्रति संवेदनशीलता दिखाती है। साथ ही विचारपूर्वक सजगता के साथ जीने का स्वभाव दिखाता है। यदि कोई किसी प्रकार का दुर्व्यवहार करता है, तो उसके पीछे उनके

संस्कार और आवेशात्मक स्वभाव का परिचय मिलता है। वह परिस्थिति का, संस्कारों का दास बनकर जी रहा है। जो स्वयं अपने वश में नहीं है, उसके प्रति अन्य प्रकार की अपेक्षा रखना यह कोई बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है। क्षमा के भाव में हृदय की वो उदारता दिखती है कि, जहां अन्य की उनके गुण तथा दोष समेत स्वीकृति है। क्षमा बल के दुरुपयोग की सम्भावना पर अंकुश लगाती है। क्षमा का यह अभिप्राय नहीं है कि हम निष्क्रिय हो जाएं। ऐसे समय मन में किसी भी प्रकार की खिन्नता और द्वेषभाव से रहित होकर उचित प्रतिक्रिया का आश्रय अवश्य लेना चाहिए। इस प्रतिक्रिया में भी विचारशीलता और सजगता का अस्तित्व दिखता है। वहां अपनी भावना के वशीभूत नहीं, किन्तु मन की उदारता के साथ स्वतंत्रतापूर्वक किया गया कर्म है। इस प्रतिक्रिया के पीछे मन में अन्य के हित और कल्याण की भावना ही प्रधान है। न कि किसी प्रकार से विकृत मन से बदले की भावना।

कृपा

क्षमा के साथ कृपा और समत्व को भी इन लगाम की रस्सी में गूंथा है। इस प्रकार क्षमा आदि तीनों मिलकर इस रथ को नियंत्रित करके सही दिशा प्रदान करता है।

क्षमारूपी गुण के साथ कृपा अर्थात् करुणा होना भी आवश्यक है। करुणा के अभाव में क्षमा वास्तविक क्षमा नहीं होती है। किन्तु वो कमजोरी और असहायता की वजह से हो रही प्रतिक्रिया मात्र है। किसी के प्रति भी क्षमा की भावना मन में करुणा की वजह से ही हो पाती है। अन्य के प्रति संवेदनशीलता हो पाना तथा अपनी वजह से किसी को पीडा न पहुंचे, इसके प्रति संवेदनशील होना करुणा है। किसी के दोष और पीडा की वजह से मन खिन्न नहीं होते हुए उनकी व्यथा को समझ पाना है। जब इस प्रकार की संवेदनशीलता होती है, तब ही दूसरों के हित के बारे में सोचते हुए सहाय करने की

भावना होती है। इन दोनों गुणों में आत्मीयता की सुगन्ध आती है। वहां मन में विक्षेप और आवेशात्मक प्रतिक्रिया का अभाव होता है। ऐसी आत्मयीता और करुणा तब ही हो पाती है कि, जब सब के ब्रह्मस्वरूप होने की श्रद्धा हो अथवा हम सब एक ही परमात्मा के अंश (सन्तान) हैं, यह श्रद्धा हो। जहां स्वकेन्द्रिता नहीं है, वहीं अन्य के प्रति हित की भावना भी हो पाती है। किसी के व्यक्तित्व में प्रतीत हो रहा दोष अथवा कष्ट स्थायी नहीं होते हुए आगन्तुक ही होता है, इसका दृढ़ विश्वास है।

जैसे भगवान श्रीराम ने रावण के प्रति क्षमा और करुणा को प्रकट किया कि युद्ध के अन्तिम क्षण तक रावण को अवसर प्रदान करते हुए अंगद को उनके पास भेजा गया। अंगद के साथ भेजे गए संदेश का यह ही सूत्र बताया गया कि 'काज हमार तासु हित होई।' अक्षम्य अपराध के बावजूद उनके प्रति करुणा की वजह से क्षमा की भावना प्रकट हो पाई।

समता

घोडें को नियंत्रित करने की तीन सूत्रों से गूंथी गई रस्सी की तीसरी लट समत्व बता रहे हैं। क्षमा और करुणा मन में भावुकता उत्पन्न करके विचलित न करें, उसके लिए समत्व रूपी गुण की अपेक्षा होती है। अतः क्षमा और कृपा साथ समत्व को भी इन लगाम की रस्सी में गुंथा है। इस प्रकार क्षमा आदि तीनों मिलकर इस रथ को नियंत्रित कर सही दिशा प्रदान करता हैं।

क्षमा और कृपा संवेदनशीलता है तो समत्व विचारशीलता है। मन की समस्त भावनाओं पर अंकुश लगने पर ही एक समन्वित और स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसके लिए समत्वरूपी गुण आपेक्षित है। समत्व मन का एक ऐसा गुण है, जहां विविध परिस्थिति की प्राप्ति में किसी प्रकार से विचारशीलता

प्रभावित नहीं होती है। विचारपूर्वक कार्य करना ही बुद्धिमान मनुष्य का लक्षण है। वह ही कर्म में स्वतंत्रता लाता है। क्योंकि समत्वयुक्त मन ही किसी भी परिस्थिति में तटस्थ रहते हुए दोनों पक्षों को देख पाता है। किसी एक ही पक्ष का आश्रय लेना वह राग और द्वेष अर्थात् मन की मलिनता का सूचक है। उस व्यक्ति में अनुकुलता की प्राप्ति हर्ष लाती है, तथा प्रतिकुलता की प्राप्ति शोकाकुल और आतंकित कर देती है। हर्षित होना यह दिखाता है कि मन इतना छिछ़ोला है कि थोडी सी अनुकूलता में ही प्रफुल्लित हो उठता है। उसमें मानों खुशी की इतनी बाढ आ जाती है कि, विवेक के बांध को तोड देती है। तथा शोक यह दर्शाता है कि थोडी सी प्रतिकूलता मन को उद्विग्न कर देती है, क्योंकि सुख और सुरक्षा के लिए उन इष्ट तथा रागात्मक विषय पर पूर्णरूप से निर्भरता है। उसके अभाव में मानों शून्यवत हो जाते है। बुद्धि भी काम करना बन्द कर देती है। जिसकी वजह से अनिर्णय की स्थिति पैदा होती है।

फलस्वरूप अशान्ति व घुटन की पीड़ा होती है। अन्ततः हीनभावना से युक्त व्यक्तित्व का जन्म होता है। तनावजनित सभी समस्याएं वहां जन्म लेती हैं, एवं अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों में विवेक की अनुपलब्धता ही समत्व का अभाव है।

वस्तुतः एक क्षुद्र व्यक्तित्व के धरातल पर जीने के उपरान्त ही समत्व खण्डित होता है। क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति को अहं के परिपेक्ष में ही देखकर, उसके अनुरूप ढालने की ही अपेक्षा बनी रहती है। जहां समत्व है, वहां अहं की अर्थात् क्षुद्र व्यक्तित्व की गौणता है। उनके जीवन में ईश्वर प्रधान है। अतः समस्त कर्म ईश्वर की आज्ञा समझकर उनके निमित्त बनकर किये जाते है। वो ईश्वर का निमित्त बनकर जीता है। मन के अन्दर ईश्वर के प्रति प्रेम है तथा ईश्वर के निमित्त बनकर जीने की प्रेरणा की वजह से बुद्धि में ईश्वर की इच्छा को समझने का सामर्थ्य है। तब वह निश्चिंतता और स्वतंत्रता के साथ प्रेमपूर्वक कर्म में प्रवृत्त

हो पाता है। वहीं पर कर्म दक्षता के साथ हो पाता है। समत्व की प्राप्ति का एक सरल उपाय जीवन में ईश्वर को स्वीकार कर, उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति से होती है।

गीता में भगवान अर्जुन को बताते हैं कि 'समत्वं योग उच्यते', अर्थात् समत्व ही योग का पर्याय है। तथा 'योगः कर्मसु कौशलम्' ऐसे योग से युक्त होकर कर्म करना ही कर्म में कुशलता है। भगवान समत्व से युक्त मन को ही निर्मल अन्तःकरण बताते हैं। क्योंकि समत्व के साथ साथ बाकी अध्यात्म लक्ष्य हेतु आपेक्षित समस्त गुणों का समावेश होने लगता है। जो भी इस गुण को व्यक्तित्व में धारण करता है, वो न केवल कर्मक्षेत्र में उंचाईयों को छूता है, बल्कि अपने मन को सात्विक और निर्मल करते हुए अध्यात्म के पथ की ओर अग्रसर होने लगता है। इस प्रकार मनादि को राग-द्वेष के प्रवाह में प्रवाहित होने से नियंत्रित करने वाली लगाम क्षमा और कृपा के साथ समत्व रूपा गुण है।

ईश भजनु सारथि सुजाना।

इस धर्मरथ का चतुर सारथि ईश्वर का भजन है।

सुन्दर और सुसज्जित रथ हो, तथा जिसके आधारभूत चक्र रथ को गति प्रदान करने में समर्थ है, आकर्षक ध्वजा और पताका से सज्जित हो, इसके अलावा जिसमें सुन्दर घोडे जोडे गए हों, उसकी लगाम भी मजबुत और दृढ़ रस्सियों से बनी हुई हो – ये समस्त रथ के महत्वपूर्ण अंग है। जो रथ को आकर्षक बनाते है, तथा रथ को गतिमान करते हैं।

परन्तु ये सब के उपरान्त भी सारथि यदि चतुर न हो तो रथ विपरीत दिशा में चल कर लक्ष्य से कहीं दूर ही ले जाएगा, और रथ का स्वामी अपने लक्ष्य से भटक जाएगा। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि सारथि भी चतुर होना चाहिए। रथ की बागडौर सम्हालने वाला सारथि ही होता है। एक विलक्षण आत्मविश्वास

से युक्त और निर्भीक होना चाहिए। इसके अलावा रथ की बागडौर अपने हाथ में हो, न कि घोड़ों के द्वारा नियंत्रित हो। अर्थात् बागडौर को सम्हालने का सामर्थ्य तथा सूझबूझ और घोड़ों को नियंत्रित करने की कला और सामर्थ्य सारथि में होना परं आवश्यक है। रथ को चलाने का सम्पूर्ण ज्ञान सारथि में होना चाहिए।

इन सब से उपर सारथि में लक्ष्य का अत्यन्त स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। इसके अलावा लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग से भी परिचित होना चाहिए, लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग में आने वाले सम्भावित व्यवधानों के बारे में दूरदर्शिता तथा उन व्यवधानों से निपटने की समझ भी होनी चाहिए। कठोपनिषद् में यमराज बताते हैं कि जिस रथ का सारथि विज्ञानवान है, उनके घोडे उसके नियंत्रण में है, लगाम पर भी अपना प्रभुत्व है और वह रथ के स्वामी को उसके निर्धारित गन्तव्य तक अवश्य पहुंचाता है। उसके विपरीत जो इन तुच्छ क्षणिक विषयों को ही

अपना लक्ष्य रखता है, उनके घोड़े स्वच्छन्द होकर रथ को तहस नहस कर देते हैं। वो रथ संसार में ही भटक जाता है।

यहां श्रीराम ईश्वरभजन को ही चतुर सारथि बता रहे हैं। विज्ञानवान होना और ईश्वरभजन होना यह दोनों ही एक दूसरे के पूरक होते हैं। विज्ञानवान वो है – जो महान की महानता के ज्ञान से युक्त तथा निःस्वार्थ प्रेम से युक्त होता है। इन लौकिक विषयों की असारता को जानते हुए उसके प्रति महत्वबुद्धि से रहित होता है। जगन्नियन्ता ईश्वर ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है, वे ही जगत के आधारभूत तत्त्व है। ऐसे ईश्वर की महानता के ज्ञान से युक्त होने पर उसके प्रति प्रेम स्वाभाविक ही होगा। निरस्स्वार्थ प्रेम कि जहां अपने व्यक्तित्व की गौणता है, वो ही वास्तविक भजन है। जब प्रेम किसी महान के प्रति होने लगता है तो इन तुच्छ व क्षणिक जगत के प्रति महत्व खतम होने लगता है। उस अन्तःकरण में लक्ष्य का

स्वरूप भी शाश्वत और स्थायीतत्त्व होता है। मन में जिसके प्रति प्रेम होता है, इन्द्रियां उसी दिशा में प्रवाहित होती है। बुद्धि में शाश्वत व क्षणिक, महान और तुच्छ का स्पष्ट विवेक होने की वजह से मन में ईश्वर के प्रति भक्ति है। ऐसे में इन्द्रियां रूपी घोड़े भी मन रूपा लगाम के नियंत्रण में रहते हुए उसे जिस भी दिशा में मोड़ा जाएं वहां वे मुड़ जाती है।

ईश्वर के प्रति भक्ति ही ईश्वर को लक्ष्य बनाती है। यह भक्ति एक ऐसी प्रेरणा है कि जिसमें ईश्वर की महानता को देखकर व्यक्ति का अभिमान विसर्जित होता जाता है। व्यक्तिगत राग-द्वेष का भी निषेध होता है। वह रथ निश्चित रूप से अपने गन्तव्य को प्राप्त करता है। अतः ईश्वर भजन ही रथ का सुजान सारथि है।

विरति चर्म संतोष कृपाना।

इस धर्मरथ पर आरूढ होने के लिए वैराग्य ही ढाल है और संतोष तलवार है।

धर्मरथ पर आरूढ योद्धा के लिए अपना सुरक्षा कवच और आक्रमण के लिए शस्त्र इन दोनों की आवश्यकता होती है।

विरति

भगवान विभीषणजी को बताते हैं कि जीवन की लडाई में वास्तविक सुरक्षा की प्राप्ति किसी बाह्य विषय से नहीं है। बाह्य जगत के प्रति अपनी सुरक्षा के लिए आश्रित होना वो अविवेक है। बाह्य, अनित्य जगत जो स्वयं ही क्षणिक और असुरक्षित है, वो हमें सुरक्षा कैसे प्रदान कर सकता है? उनके प्रति आश्रित होने पर, उन सब के खोने का भय और भी असुरक्षित बनाता है। अतः प्रभु श्रीराम एक साधारण व्यक्ति की लौकिक धारणा से अलग हटकर कुछ भिन्न सुरक्षा के लिए ढाल

बताते हैं। वह सुरक्षाकवच है – वैराग्य। वैराग्य ही वास्तविक रूप से हमारी रक्षा करता है। वही अभयत्व प्रदान करता है। जगत के साथ वैराग्यपूर्ण सम्बन्ध ही वास्तविक स्वस्थता पूर्ण और प्रबुद्ध सम्बन्ध होता है। वैराग्य ही इस अनित्य जगत में रहकर वास्तविक सुख की प्राप्ति कराता है। जहां वैराग्ययुक्त सम्बन्ध होते हैं, वहीं पर धर्म का आचरण होता है। वैराग्य का अभाव धर्म का अभाव है।

वैराग्य का अर्थ होता है, ऐसा मन जिसमे न राग है और न द्वेष है। राग और द्वेष सदैव संकुचित व्यक्तित्व की प्रधानता और स्वार्थयुक्त दृष्टि से स्थापित सम्बन्ध है। जो भी संकुचित व्यक्ति के लिए अनुकूल होता है, उसके प्रति राग तथा प्रतिकूल होता है, उसके प्रति द्वेष की भावना होती है। अतः अनुकुल के प्रति प्रवृत्ति तथा प्रतिकुल से निवृत्तिरूपी प्रतिक्रिया सहज रूप से होती है। वहां व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता खो बैठता है और परिस्थिति उसे नियंत्रित

करने में समर्थ हो जाती है। बाह्य अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति ही सुख और दुःख का पर्याय बन जाती है। जो कि अपने आप में अस्थायी व नश्वर है, अतः उसके खोने का सतत भय और असुरक्षा बनी रहती है। इन सब के पीछे संकुचित स्वार्थसे युक्त व्यक्तित्व की ही प्रधानता होती है। जो सदैव अपने आपसे चिन्तित एवं अपेक्षावान होता है। अपने और जगत के बारे में प्रगाढ मोह विद्यमान है। अपनी संकुचिता की धारणा अपने वास्तविक परिचय का अज्ञान तो दिखाता ही है, साथ ही जीव के धरातल पर खडे रहकर भी नियन्ता जगदीश्वर के प्रति श्रद्धा का अभाव दिखाता है। वह सदैव मैं के बारे में चिन्तित होकर जगत के प्रति राग और आसक्तिपूर्ण सम्बन्धों से युक्त होकर जीता है। तथा उन-उन विषयों के प्रति आश्रित होने लगते हैं। पराधीन सपनेहुं सुख नाहिं। जिन-जिन के प्रति आश्रित हुए हैं, वे स्वयं अस्थायी है। वैराग्य एक स्वस्थ सम्बन्ध का नाम है कि जहां हम अपने स्वार्थ से युक्त

जगत के प्रति अपेक्षापूर्ण सम्बन्ध से युक्त नहीं हैं, अर्थात् ऐसी मनःस्थिति कि जो सब के प्रति निरपेक्षता और असंगता से युक्त है। जो भी व्यक्ति जगत के प्रति निरपेक्ष हो जाता है, वो उस पर आश्रित नहीं है। परिस्थिति उसे नियंत्रित नहीं करती है। अतः अपने अन्दर निश्चिंतता से युक्त है। ऐसी मनःस्थिति वैराग्य की अवस्था है।

वैराग्य की प्राप्ति के लिए आरम्भ में जगन्नियन्ता ईश्वर के प्रति श्रद्धा और प्रेम होना चाहिए। जैसे-जैसे जगदीश्वर के प्रति विश्वास और प्रेम तीव्र होता जाता है, वैसे वैसे मन कृताथ और धन्य होता जाता है। मन में निश्चिंतता का वातावरण होने लगता है। वह स्वकेन्द्रिता से मुक्त होकर जगत को तटस्थता से देखने में समर्थ होता है। तथा उसे ही जगत की अनित्यता का विवेक स्पष्ट होता जाता है। परिणामस्वरूप उसके प्रति निरपेक्षता होती जाती है। उन सम्बन्ध का स्वरूप होता है कि जहां

कुछ लेने के लिए नहीं किन्तु धन्यता से युक्त प्रेमपूर्वक सेवा की प्रधानता होती है। उसके व्यवहार व आचरण में धर्म की सुगन्ध आती है। ऐसा विरक्त ही अपने आपको वास्तविक अर्थ में सुरक्षित देख पाता है। वह इसी विकारी, अनित्य जगत में विचरता है किन्तु वैराग्य का सुरक्षाकवच धारण करके। वैराग्य सुरक्षा हेतु ढाल है तो संतोष आक्रमण हेतु कृपाण है।

संतोष

धर्मरथ पर आरूढ योद्धा के लिए वैराग्य बहुत सुन्दर ढाल है। रागादि शत्रु और उससे उत्पन्न अनेकों पीडाओं से बचने का उपाय मात्र वैराग्य है। वैराग्य ही जीवन की विविध अनुभूतियों से प्राप्त ज्ञान व शिक्षा की रक्षा करता है, जिससे कि आगे की यात्रा उचित दिशा में हो सके। भगवान श्रीराम ने वैराग्य को सुरक्षा कवच तथा संतोष को दिव्य कृपाण बताया।

बाहरी जगत में प्रवृत्त होते समय नए रागादि रूप अनेकों शत्रुओं को परास्त करने हेतु शस्त्र संतोष है। जीवनसंग्राम में सतत अनेकों अनुभूतियों के दौर से गुजरना होता है। विविध अनुभूतियों के दौरान किसी प्रकार की अपेक्षा से युक्त रहने पर सुखद अनुभूति राग को और दुःखद अनुभूति द्वेष को जन्म देती है। यह राग और द्वेष किसी परिस्थिति के प्रति तटस्थ होकर देखने और अनुभव करने के सामर्थ्य से वंचित कर देते हैं। भगवान गीता में राग और द्वेष को महाशत्रु तथा अध्यात्ममार्ग के शत्रु बताते हैं, जो कि परिस्थिति आने पर हमारे ज्ञान को उपलब्ध नहीं होने देते है। हम उसीके वशीभूत होकर प्रतिक्रिया के लिए प्रेरित हो जाते हैं। ऐसे स्वतंत्रता छिननेवाले शत्रु को बाहर से ही परास्त करना परं आवश्यक है। किन्तु जब तक जगत के प्रति प्यासी नजरों से युक्त होकर क्रिया और प्रतिक्रिया होगी, तब तक यह असम्भव होता है। इसके लिए संतोषरूपी शस्त्र को धारण करने की आवश्यकता है। संतोष

न केवल रागादि शत्रुओं को परास्त करता है किन्तु निर्भीकतापूर्ण धर्माचरण का बल प्रदान करता है। संतोष शब्द में निरपेक्षता द्योतित होती है, क्योंकि जब मन तृप्त है, जहां कोई अपेक्षा नहीं होती है। प्रारम्भ में संतुष्टि बाहरी निमित्त की वजह से हो सकती है, किन्तु वह क्षणिक होती है। जिस समय अहैतुक करुणा के सागर ईश्वर की बरसती हुई कृपा प्रत्येक अनुकुल और प्रतिकुल परिस्थिति में दिखने लगे तो प्रत्येक परिस्थिति प्रभु प्रदत्त प्रसादरूप दिखाई देती है। प्रसाद ही मन को तृप्त करता है। तब ही प्रत्येक कर्म संतुष्टि की अभिव्यक्ति तथा धन्यता के साथ होने लगता है। वह संतुष्टि सात्विक बनाती है, सेवा का उत्साह जगाती है। किसी भी अपने से पृथक निमित्त पर आश्रित सतोष अहं की संतुष्टि का हेतु बन सकता है। अतः यह संतुष्टि नैमित्तिक न होते हुए स्वाभाविक हो जानी चाहिए। स्वाभविक संतुष्टि को ही भगवान ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण की तरह बताया कि आत्मनि एव आत्मना तुष्टः। जो

स्वयं अपने आपमें अपने आपसे संतुष्ट होता है, बगैर किसी निमित्त के। पूर्णतया संतोष अपने स्वस्वरूप को पूर्ण परब्रह्मस्वरूप जानने पर ही सम्भव होता है। स्वस्वरूप की अवस्था में जगने के लिए अपने बारे में पूर्णता की श्रद्धा हो। तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा और भक्ति का समावेश होना चाहिए। इसीसे मन निरपेक्ष और सात्विक होता जाता है। सात्विक मन ही इस तथ्य को गुरु के चरणों बैठकर श्रवणादि के द्वारा जान पाता है, और अन्ततः स्थितप्रज्ञता सम्भव होती है।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा।

इस धर्मरथ पर आरूढ होने के लिए दान फरसा है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है।

धर्मरथ पर आरूढ योद्धा के लिए भगवान राम विभीषणजी को दान को परशु बता रहे हैं।

दान

अपने पास जो भी बहुल मात्रा में हो, उसे जरूरतमन्द के प्रति आत्मीयता की अभिव्यक्तिरूप से देना वह दान है। दान असमर्थ को देखकर करुणा की अभिव्यक्ति है, तथा आत्मीयता का द्योतक है। अपनी मेहनत से अर्जित वस्तु के प्रति ममत्व त्यागते हुए उसे अन्य के लिए उपलब्ध कराना है। दान में अपने द्वारा उपार्जित सम्पत्ति का सदुपयोग होता है। दान देने की भावना से बडप्पन, उदारचित्तता, आत्मयीता और धर्मनिष्ठा से युक्त व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त होता है।

अपने वर्ण–आश्रम के अनुरूप किये कर्म का फल हमारा अपना हो जाता है। मेहनत से प्राप्त के प्रति स्वाभाविक ममत्व और आसक्ति होने लगती है। जहां शास्त्र एक ओर कर्म करने की प्रेरणा देते हैं, तो दूसरी ओर दान की प्रेरणा देते हैं, क्योंकि स्वकर्म से प्राप्त के

प्रति ममत्व की सम्भावना होती है। दान में ममत्व के निषेध की भावना है। जो कर्म करते हुए दान की भी वृत्ति बनाए रखता है, तो वहां कर्म बन्धनकारी नहीं बनते है। भगवान गीता में अर्जुन को उपदेश देते हुए बताते हैं कि यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यम्। अर्थात् यज्ञ, दान और तप को कभी भी नहीं त्यागना चाहिए। यह तीनों अवश्य कर्तव्यरूप से करणीय है। दान भी सात्विक, राजसी व तामसी तीन प्रकार के बताते हैं। इन तीनों में से सात्विक दान ही इष्ट होता है। सात्विक दान वो है, जहां पर देने का कोई अभिमान नहीं है। ऐसे दान करने के द्वारा कर्म के दोषों से, संकुचिता से मुक्त हुआ जाता है। दान लेनेवाला किसी चीज के अभाव से युक्त है। उनमें अभाव की हीनता दूर करके अपनापन जगाया जा सकता है। दान देने से अपना परिवार मानों कि विशाल हो जाता है। परायों के साथ की दूरियां खतम होती है। यह दान अन्न का, वस्त्र का, किसी भी द्रव्य का तथा धन का भी दिया जा सकता है। किन्तु

विद्यादान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसे प्राप्त करके व्यक्ति समाज में स्वाभिमान से युक्त होकर जीने में समर्थ हो सकता है।

धर्मरथ का गन्तव्य जिस महान लक्ष्य की सिद्धि है, उसके अन्तर्गत सब के प्रति आत्मीयता की भावना – भेदबुद्धि को समाप्त करने की प्रक्रिया में प्रथम कदम है। दान रूपी परशु के द्वारा जो शत्रु का विनाश होता है, वो है ममत्व, आसक्ति, और संकुचिता। यह बहुत बडे शत्रु हैं, जो हमें धर्मपथ पर चलने से विचलित करने में समर्थ है। इसलिए धर्मरथ के द्वारा प्राप्त होने योग्य गन्तव्य से भी वंचित रह जाते हैं। सात्विक दान का आश्रय लेते हुए ऐसे शत्रु का विनाश करके अपने महान गन्तव्य की दिशा में अग्रसर हुआ जाता है। अतः भगवान राम विभीषणजी को दान रूप मूल्य को एक शस्त्र की तरह बताते हैं।

बुद्धि

दान रूप शस्त्र से राग, द्वेष, ममत्व, आसक्ति और संकुचिता रूप महाशत्रु का विनाश किया जा सकता है। दान से दरिद्रता व छोटेपन की समाप्ति होती है। किन्तु इसका प्रयोग भी बुद्धिमत्ता से किया जाना चाहिए। वास्तविक शक्ति बुद्धि ही होती है, क्योंकि बुद्धिमत्ता से ही किसी भी विकट से विकट परिस्थिति का प्रबन्धन किया जा सकता है।

परमात्मा ने मनुष्यमात्र को इस बुद्धिरूपा प्रचण्ड शक्ति से नवाज़ा है। किसी भी शक्ति का उचित तरीके से प्रयोग आशीर्वादरूप बनता है, किन्तु यदि उसका गलत प्रयोग हुआ तो वह विनाश का कारण बनता है। बुद्धिरूपा इस शक्ति का भी उचित दिशा में प्रयोग परमात्मा की अवस्था में जगाने में सक्षम अर्थात् मोक्षप्रदायी होता है। यदि इसका गलत प्रयोग हुआ तो भगवान अर्जुन को बताते हैं

कि 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।' बुद्धि के नाश होते ही उसका विनाश हो जाता है अर्थात् मनुष्य का मनुष्यत्व खत्म हो जाता है। वो मनुष्य कहलाने योग्य ही नहीं रहता है। मनुष्यत्व की समाप्ति होने पर वो धर्मादि समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाता है। साथ ही वह जीवन नरकतुल्य होता है। बुद्धि का सही दिशा में प्रयोग किसे कहते है, यह बिन्दु विचारणीय है। मन को दिशा प्रदान करने वाली, तथा प्रेरित करनेवाली बुद्धि ही होती है। यदि बुद्धि में स्पष्टता होती है, तो ही मन तथा समस्त करण की प्रवृत्ति उचित दिशा में होती है, जिससे अन्ततः कल्याण होता है। बुद्धि के द्वारा किया जाने वाला निश्चय ही मनुष्य को उस दिशा में प्रेरित करता है।

भगवान ने गीता में सात्विक, राजसी और तामसी – यह तीन प्रकार की बुद्धि बताई। तामसी बुद्धि वह होती है कि जहां उचित को अनुचित तथा धर्म को अधर्म समझा जाता है,

अर्थात् सर्वथा विपरीत दिशा में ही विचार होता है। राजसी बुद्धि वह होती है कि जो धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य के बारे में अविवेक से युक्त है। सात्विक बुद्धि वह होती है कि, जिसमे धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य, बन्धन-मोक्ष तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्वरूप का ज्ञान है। बुद्धि का उचित प्रयोग इन उक्त विवेक से युक्त होकर जीना है। यह विवेक शास्त्र प्रमाण पर आश्रित होना चाहिए। अतः परमात्मा से भी यह ही प्रार्थना की जाती है कि 'धियो यो नः प्रचोदयात्। हे प्रभु! आप हमारी बुद्धि को तेजस्वि बनाएं। जो ऐसे शास्त्रोक्त विवेक से युक्त होकर जीता है, वो जीवन की प्रत्येक अनुकूल वा प्रतिकूल परिस्थिति में समत्व से युक्त होकर जीता है। परमात्मा के द्वारा मनुष्य को दिए गए इस बुद्धि रूपा सुन्दर उपहार का महत्व उसने ही समझा है। उसका जीवन धन्य व सफल है।

कठिन कोदण्ड पर विज्ञाना

इस धर्मरथ पर आरूढ होने के लिए शक्तिशाली धनुष श्रेष्ठ विज्ञान है।

विज्ञान

बुद्धि यदि प्रचण्ड शक्ति है, तो उन उनका शक्तिशाली धनुष श्रेष्ठ विज्ञान है। बुद्धि में एक होता है ज्ञान तथा दूसरा विज्ञान। ज्ञान की सार्थकता तब ही होती है कि जब वो विज्ञान होता है। ज्ञान अर्थात् किसी चीज की सत्यता के बारे में बौद्धिक निश्चय। बुद्धि की महिमा ज्ञान की वजह से ही होती है। अतः बौद्धिक निश्चय की तो अत्यन्त महिमा है ही, किन्तु उसका वास्तविक प्रसाद तब प्राप्त होता है कि जब वो विज्ञान अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान बन जाएं। बुद्धि की जानी हुई बात जब स्वयं की देखी हुई जो जाएं। बुद्धिगत निश्चयों की हृदय तक की यात्रा ही ज्ञान से विज्ञान तक की यात्रा है।

लौकिक जगत में ज्ञान के उपरान्त क्रियान्वयन में सदैव संशय की सम्भावना बनी रहती है। तथा उस कार्य में समग्रता नहीं हो पाती है। ऐसे में कार्य की सुन्दरता व सफलता दोनों संशयात्मक है। जिस समय स्वयं का अपरोक्ष ज्ञान होने की वजह से निश्चय है, उसके उपरान्त उचित अनुचित का निर्णय करके क्रियान्वयन हो पाता है। यह अपने हृदय की बात होने की वजह से समग्रता से उस कार्य में समर्पित हो पाते है।

अध्यात्म ज्ञान में ज्ञान के उपरान्त विज्ञान की अपेक्षा होती है। ज्ञान से बुद्धिगत संशयों की समाप्ति होती है, किन्तु वो ज्ञान हमारा अपना नहीं होने की वजह से मुक्ति नहीं है। विज्ञान अपनी ब्रह्मस्वरूपता का अपरोक्ष अनुभव है। यह मात्र बौद्धिक वा शास्त्रगत बात नहीं है, किन्तु यह हमारी अपनी अनुभूति है। अपरोक्ष ज्ञान ही मुक्ति का हेतु होता है। अतः सदैव पुरुषार्थ यह ही होना चाहिए कि पहले

ज्ञान को प्राप्त करें, उस सन्दर्भ में बुद्धिगत समस्त संशयों को समाप्त करते उस तथ्य को आत्मसात करें।

इस विज्ञान के लिए पहले बौद्धिक निश्चय की अपेक्षा होती है। अतः पहले ज्ञान प्राप्त करें उसके उपरान्त उसे अपना बनाएं। यह ही लक्ष्य के भेदन हेतु श्रेष्ठ धनुष सिद्ध होता है।

अमल अचल मन त्रोन समाना।

इस धर्मरथ पर आरूढ होने के लिए शुद्ध और स्थिर मन ही त्रोण अर्थात् तूणीर के बाण है।

प्रभु श्री राम विभीषणजी को बताते हैं कि संसाररिपु को जीतने के लिए धर्मरथ पर आरूढ होना है। इस संसाररिपु को जीतने के लिए शुद्ध और स्थिर मन ही त्रोण अर्थात् तूणीर के बाण हैं।

अमल अर्थात् शुद्ध मन

धर्मरथ वो रथ है, जो संसार की समाप्ति की दिशा की ओर यात्रा कराता है। संसार स्वस्वरूप के अज्ञान से युक्त होकर कल्पना के जगत में जीना है। इस कल्पना के अन्तर्गत अपने आपको अपूर्ण जीव समझकर जीना, तथा अपूर्णता की निवृत्ति के लिए अनित्य, अशाश्वत जगत के प्रति आश्रित होना है। यह पराधीनता ही बन्धन है। इस यात्रा के लिए, स्वरूपज्ञान की प्राप्ति के लिए मन, बुद्धि आदि करणों की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका है। जब तक मन मलिन है, तब तक न तो अपने आपको जानने की प्रेरणा होती है और न ही ज्ञान की सम्भावना होती है।

अतः इस संसाररिपु को जीतने के लिए मन अमल अर्थात् शुद्ध होना चाहिए। मन के राग और द्वेष को मल कहा जाता है। यह वे निमित्त हैं, जिसकी वजह से मनुष्य अपनी

स्वतंत्रता खो बैठ़ता है, और बलपूर्वक बाह्य विषयों के प्रति प्रवृत्त हो जाता है। इन्द्रियों की बहिर्मुखता के पीछे राग और द्वेष कारण है। इन राग-द्वेष की उत्पत्ति स्वकेन्द्रिता से युक्त होकर जीने से तथा बाह्य जगत के प्रति महत्वबुद्धि की वजह से होता है। राग-द्वेष की मलिनता ही विवेक को आवरित करके पाप करने के लिए प्रवृत्त करते हैं। वह मनुष्य समत्व को खो बैठता है और बेबसी से अधर्म के मार्ग पर प्रवृत्त होता है। इन राग-द्वेष रूपी मल की निवृत्ति कर्मयोग से होती है। ईश्वर के प्रति आस्था और भक्ति ही कर्मयोग का प्राण है। कर्मयोग में प्रेमपूर्वक अपने समस्त कर्म को प्रभु के चरणों में समर्पित किये जाते हैं, जो भी फल की प्राप्ति होती है, उसे प्रसादबुद्धि से युक्त होकर ग्रहण करने पर कर्मफलरूप विषय का महत्व खत्म होने लगता है। उसके स्थान पर जीवन में कर्मफलदाता ईश्वर का महत्व होने लगता है। जिसके जीवन में कर्मफलदाता ईश्वर का महत्व स्थापित होता है, वह स्वकेन्द्रिता से

मुक्त होकर जगत को देखने में समर्थ होता है। किसी भी परिस्थिति को तटस्थता से देखने का सामर्थ्य जगने लगता है। इस सामर्थ्य से युक्त मन निर्मल कहा जाता है।

अचल अर्थात् स्थिर मन

मन को अमल के साथ अचल भी होना चाहिए। अचल अर्थात् चंचलता से रहित मन। मन रस का प्यासा होता है मन के राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर काफी हद तक मन की चंचलता पर नियंत्रण होने लगता है। किन्तु तब भी अपने मन को एक जगह पर स्थिर नहीं कर पाते हैं, वह कहीं और जाना चाहता है।

जिस समय ईश्वर के चरणों में प्रीति होने लगती है तो मन उसके प्रति स्थिर होकर चंचलता रहित तो होता है, किन्तु इस परिस्थिति में भी मन अपने आपके साथ नहीं बैठ पाता है। यह भी एक प्रकार की चंचलता ही है। इस चंचलता के पीछे का यह कारण है कि हमने

आज अपनी अस्मिता ऐसी संकुचित और क्षुद्र बनाई है कि मन को 'मैं' के साथ बैठने में घुटन का अनुभव होता है। अतः इसे अच्छी तरह जानकर अपनी अस्मिता के उपर ही विचार किया जाता है। क्या यह अस्मिता हमारी वास्तविक अर्थात् प्रामाणिक है वा काल्पनिक? अपने बारे में शास्त्र प्रमाण से विचार करने पर ही एक ऐसी अस्मिता की प्राप्ति होती है कि जो पूर्णस्वरूप है। ऐसी अचल स्वरूपता ही लक्ष्य है। किन्तु उसके पूर्व ईश्वर के प्रति भक्ति और मन को मलिनता से मुक्त करने के द्वारा मन को निगृहीत किया जाता है।

ऐसा अचल और अमल मन ही धर्मरथ पर आरूढ योद्धा के बाण का तूणीर है, जिससे संसाररिपु की समाप्ति की जा सकती है।

कवच अभेद बिप्र गुरुपूजा।

इस धर्मरथ पर आरूढ होकर रिपु को जीतने के लिए अभेद कवच विप्र और गुरु की पूजा हैं।

कवच वो होता है कि जो युद्ध के मैदान में रिपु से रक्षा करता है। संसार में धर्म की रक्षा करने वाले विप्र होते हैं तथा अज्ञान का भक्षण करने वाले गुरु है। विप्र अर्थात् ब्राह्मण वे होते हैं जो सत्वगुण से युक्त, धर्मपरायण जीवन जीते हैं तथा अन्य को भी धर्म के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं।

विप्र और गुरु पूजन

जीवन में गुरु की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होती है। गुरु वह होते हैं, जो अज्ञान को नष्ट करते हैं। सुखी और शान्तिपूर्वक जीवन के लिए जीवन के प्रत्येक मोड़ पर ज्ञान की

अपेक्षा होती है। जीवन में सर्वप्रथम गुरु माता एवं पिता होते है, जो हमें संसार से परिचित करवाते हैं। अच्छे संस्कारों से सिंचित करके पुष्प की तरह खिलाते हैं। जीवन की वास्तविक शिक्षा अच्छे संस्कारों से युक्त होकर जीना है। तत्पश्चात् शिक्षक होते हैं, जो इस जीवन निर्वाह हेतु विविध शिक्षा प्रदान करते हैं। माता-पिता आदि गुरु से शिक्षा तथा संस्कार प्राप्त करने पर जगत में सापेक्षरूप से धर्ममय तरीके से सुखी तथा सुरक्षित जीवन जीने में समर्थ हो पाते है। व्यावहारिक धरातल पर हमें अपनी विलक्षण पहचान देकर स्वाभिमान से युक्त जीना सिखाते हैं। अतः वे आदरणीय हैं।

एक गुरु होते है कि जो उचित-अनुचित का ज्ञान प्रदान करके पापाचरण अर्थात् अधर्म के आचरण से मुक्त करके धर्ममार्गगामी बनाते हैं। जिससे अध्यात्मज्ञान के लिए पात्र बन सके। अतः उन समस्त गुरुजनों तथा संसार में ध र्म को रक्षित करने के निमित्तरूप विप्रगण के

प्रति कृतज्ञता का भाव होना चाहिए। कृतज्ञता मन की संवेदनशीलता का सूचक है। कृतज्ञता की अभिव्यक्ति पूजन अथवा सेवारूपा होती है। संसार की प्राप्ति में निमित्त अहंभाव होता है। अतः जो भी अहं की संतुष्टि का हेतु बनता है, वह संसार को ही पुष्ट करता है। संसार के समस्त दोष इसी अहं पर ही केन्द्रित होते हैं। अतः वह कृत्य जिससे अहं का निषेध होता है, वह ही संसार का निषेधक होता है।

पूजन अर्थात् अहं का समर्पण। पूजन हेतु अपने अहं को गौण होना पडता है। जिनका अहं समर्पित हो जाता है, उनको किसी भी सांसारिक दोष से भय नहीं होता। पूजन विनम्रता से समर्पण है। यह ही संसारशत्रु के प्रति एक कवच बन जाता है।

इन सब से एक विलक्षण गुरु जो हमें अध्यात्म की शिक्षा प्रदानकर अपने बारे में अज्ञान की निवृत्ति करके अपने स्वरूप की

प्राप्ति करवाते हैं। उनके द्वारा जीव, जगत और ईश्वर के सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। जिसमें हमें हमारा सत्य जो कि जीवभाव से परे है, उससे अवगत कराया जाता है। उसके लिए जीवभाव का निषेध होना परं आवश्यक है। यह तभी सम्भव होता है कि जब हम अपने अहं को उसके लिए उपलब्ध कराते है। सेवा ही अहं के निषेध का हेतु बनता है। इसके अलावा सेवा के माध्यम से गुरु का सान्निध्य प्राप्त होता है, जिससे कि वे हमें अच्छी तरह से जान सकते हैं। हमारी कमजोरी आदि को समझते हुए, ज्ञान के लिए जो भी व्यवधान होता है, उसे निवृत्त करने हेतु सहाय करते हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप तीनों भूमिकाएं निभाते हैं। इस प्रकार संसार से मुक्ति दिलाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक धरातल पर वे कवच बनकर संसाररूप शत्रु से रक्षा करते हैं। संसाररिपु को जीतने के लिए अन्य समस्त संसाधन हो किन्तु गुरु आदि के प्रति आदर और कृतज्ञता की भावना न हो तो अन्य सब संसाधन व्यर्थ हो जाते है।

सखा धर्ममय अस रथ जाके।
जीतन कहं न कतहुं रिपु ताके।।
महा अजय संसाररिपु,
जीति सकैं सो वीर।
जाके अस रथ होई दृढ़
सुनहुं सखा मति धीर।।

'हे सखा! ऐसा धर्ममय रथ जिसके पास हो, उसको जीत सकें ऐसा कहीं शत्रु नहीं है। जिस वीर के पास ऐसा दृढ़रथ हो वह महा दुर्जय संसार-शत्रु को भी जीत सकता हैं।'

उपसंहार

भगवान श्रीराम ने विभीषणजी के समक्ष सुन्दर धर्मरथ का विश्लेषण किया। और बताया कि संसाररिपु को जीतने के लिए ऐसे धर्मरथ पर आरूढ होना है। अब इस धर्मरथ का उपसंहार करते हुए भगवान बताते हैं कि 'सखा

धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कबहुँ रिपु ताके।। जिस रथ का भगवान ने वर्णन किया वह ही धर्ममय है, क्योंकि उसके प्रत्येक अंग धर्म ही हैं। धर्म के विविध अंगों से बना हुआ रथ, आयुध, कवच व्यक्ति को अजेय बना देते हैं। उससे कोई शत्रुता करने का साहस नहीं रखता। यदि शत्रुभाव से कोई उसके समक्ष होता है, तो वह भी पराजित ही हो जाएगा। भगवान राम भी स्वयं ऐसे ही धर्मरथ पर ही आरूढ़ हैं। धर्म के सम्पूण अंग उनके चरित्र और व्यक्तित्व में चरितार्थ हो रहे हैं।

मनुष्य का सब से प्रबल शत्रु संसार है। संसार अर्थात् अपने स्वस्वरूप के अज्ञान के कारण जीवत्व को ही सत्य मानकर अन्तहीन प्यासे जीना। जीवभाव से युक्त व्यक्ति खण्डित जगत में जीता है। जिसमें मैं-मेरा, तूं-तेरा की दृढ़ भावना होती है। जगत को इस संकुचित 'मैं' से प्रेरित होकर अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा पसंद नापसंद के हिसाब से खण्डित करके जीता है।

तथा अपनी स्वकल्पित कमियों को दूर करने के लिए सतत प्रयासरत रहता है। जब तक अन्तर्मुख होकर अपने बारे में की गई कल्पना के उपर पुनरालोकन नहीं करता है, तब तक अन्तहीन संसारचक्र में ही फंसा रहता है।

धर्ममय आचरण ही उसे सूक्ष्म, संवेदनशील, विचारवान्, शुद्ध और सात्विक मन से युक्त बनाता है। ऐसा शुद्ध व सात्विक मन जिज्ञासा से युक्त होकर श्रीगुरु के चरणों में विनम्र भाव से समर्पित होने में समर्थ होता है। शास्त्र और गुरु के द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने पर स्वस्वरूप का अज्ञान और उसके कार्यरूप संसार की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार अत्यन्त दुर्जेय संसाररिपु को वह जीत सकता हैं। जिसने संसाररूपी शत्रु को जीत लिया उसके लिए कोई भी बाहरी शत्रु नही होता है। सब के प्रति आत्मभाव से युक्त वह समष्टि कल्याण हेतु जो भी उचित होता है, उसके अनुरूप सहज रूप से प्रवृत्त होता है।

इसके साथ ही यह प्रभु श्रीराम द्वारा विभीषणजी को युद्ध के मैदान में दिया गया धर्मरथ का उपदेश समाप्त हुआ। इसे सुनकर विभीषणजी के मन के संशयों का समाधान हो गया। जिसका परिणाम उन्होंने अन्त में रावण पर विजय के रूप में प्रत्यक्ष अनुभव भी किया।

ओम् तत्सत्।